डॉ.महात्मा एस. पाण्डेय

एशोसिएट भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान शिमला

मो.नंबर-8454028185, 8454073937

ईमेल-mahatmapandey1982@gmail.com

21वीं सदी के आदिवासी हिन्दी उपन्यास और सामाजिक न्याय

प्रस्तावना:

आदिवासी शब्द से तात्पर्य आदिवासी, जंगली, आदिम वनवासी, इत्यादि से माना जाता है| शब्दकोशों में आदिवासी शब्द आदिकाल से निवास करने वाले व्यक्तियों के संबंध में प्रयुक्त होता है| आदिवासी देश के मूल निवासी माने जाने वाले तमाम आदिम समुदायों का सामूहिक नाम है| इस संदर्भ में यह भी विचारणीय है कि आदिवासी पद का 'आदि' शब्द उन समुदायों के आदि युग तक के इतिहास का द्योतक है, जो एक ही परंपरा मात्र में अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं| उनकी एक विशेष प्रकार की भाषा है, और साथ ही धर्म, प्रथाएँ और परंपराएँ भी हैं| कुछ आलोचक यदि आदिवासी शब्द को लेकर अलग-अलग विचार रखते हैं, तो कुछ आदिवासियों की अवधारणा को लेकर एकमत नहीं हैं| अवधारणा का संबंध विचार, मत, मान्यता एवं समझ से है| यहाँ भी दो तरह के विचार उत्पन्न होते हैं, एक आदिवासियों की अवधारणा, दूसरा आदिवासियों के संबंध में अन्य लोगों की अवधारणा| पहले रूप में तो आदिवासियों की अपनी अवधारणा है कि वे प्रकृति के पूजक हैं| जमीन, जंगल और जल को ही अपना सर्वस्व समझते हैं| इनकी अपनी निजी मान्यताएँ, भाषाएँ, और संस्कृति होती है, वे उसी में अपना निर्वहन करना चाहते हैं|

दूसरी तरफ सामन्यजन की भी आदिवासियों के प्रति यह अवधारणा बनी हुई है कि वे शिकारी होते हैं, नंगे बदन घूमते हैं, कर्म से हीन होते हैं, उनके सिर पर सींग होते हैं, मनुष्यों का भक्षण करने वाले होते हैं, उनके कोई आचार-विचार नहीं होते हैं| उनके साथ न तो खाना खाया जा सकता है, और न उनके साथ बातचीत ही की जा सकती है| प्रसिद्ध समाजशास्त्री जगन्नाथ पाधी का यह विचार है कि अवधारणा का अपने आप में कोई स्वतंत्र अस्तित्त्व ही नहीं होता, उसका अर्थ न केचल उन्हीं सिद्धांतों से निकलता है, जिसका कि वे हिस्सा हैं, अपितु उनका आकार अधिकतर समकालीन सत्ता संरचना, और अकादमिक सदस्यों व कार्यकर्ताओं के बीच हुई बहसों से भी बनता है| इस प्रकार आदिवासियों की अवधारणा भी २१वीं सदी के आदिवासी उपन्यासों के परिवेश और उसके सामाजिक न्याय पर निर्भर करती है, क्योंकि समकालीन परिवेश ही आदिवासियों की सोच और उनकी समझ को विकसित करती है| इस परिवेश में आलोचकों के परस्पर होने वाले तर्क-

कुतर्क और बहसों ने आदिवासी अवधारणा को और भी ज्यादा पुष्ट किया है| जिसका परिणाम ही हमारे सामने आदिवासी विमर्श के रूप में आया है|

अलग-अलग समाजशास्त्रियों के अनुसार प्रायः आम सहमति है कि अनुसूचित जनजातियाँ उन आदिवासी लोगों को कहा जाता है, जो भारत के पहाडी मैदान या पठारी और जंगली प्रदेशों में निवास करते हैं| भारत की अनुसूचित जनजाति में आने वाले लोग कई समूह में विभाजित हैं, और प्रत्येक समूह का एक निश्चित भू-प्रदेश है, उनकी एक विशेष प्रकार की भाषा है, और साथ ही धर्म, प्रथाएं, परंपराएँ भी हैं| आदिवासी शब्द अपने आप में भ्रामक भी है| आरंभ में इस शब्द का प्रयोग अंग्रेजी के शब्द 'प्रिमिटिव' (आदिम) के अर्थ में हुआ था, वे कबीले जो सभ्यता के सबसे निचले पायदान पर रह रहे थे, जिसकी संस्कृति का पूर्ण विकास नहीं हुआ था| वहाँ सभ्यता का अर्थ जीवन जीने के ढंग से भी था, और संस्कृति का अर्थ जातीय मूल्यबोध से था| विकास का अर्थ वैश्विक जीवन दृष्टि यानी तमाम सभ्यताओं और संस्कृतियों से तालमेल बैठाने की क्षमता से था|

आदिवासियों के सन्दर्भ में सामान्य मनुष्य से लेकर तथाकथित बुद्धिजीवियों तक ने अपनी अवधारणा बना रखी है कि आदिवासी असभ्य, बर्बर, राक्षस, और हिंसक होते हैं| उनका व्यवहार सामान्य मानुष से बिल्कुल भिन्न होता है| वे जन्मजात शिकारी तथा दस्यु प्रवृत्ति के होते हैं| जन्मजात लड़ाकू भी होते हैं| उनकी सभ्यता और संस्कृति को न तो समझने की कोशिश की जाती है, और न ही उनके साथ सहृदयता का व्यवहार ही किया जाता है. अपितु पूर्वाग्रह के कारण उनके साथ अमानवीय व्यवहार किया जाता है,तथा असभ्य समझकर समाज की मुख्यधारा से विलग कर दिया जाता है, तथा बाहरी स्वरूप और अवधारणा के आधार पर मनमानी परिभाषा भी गढ़ दी जाती है, जो यथार्थ से बिल्कुल दूर की बात है| "आदिवासी देश के मूल निवासी माने जाने वाले तमाम आदिम समुदायों का सामूहिक नाम है| इस संदर्भ में यह विचारणीय है कि आदिवासी पद का 'आदि' उन समुदायों के आदिम युग तक के इतिहास का द्योतक है|"1

आदिवासी शब्द की परिभाषा:

भारत साँस्कृतिक विविधताओं वाला देश है, यहाँ पर विभिन्न संस्कृतियाँ निवास करती हैं, जिनमें आदिवासियों का सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान है| आदिवासी हमारी प्राचीन संस्कृति के परिचायक भी हैं, जो समाज से अलग रहने के कारण पिछड़ गए हैं| आज का आदिवासी समाज संकट के कठिन दौर से गुजर रहा है| जल, जंगल और जमीन की समस्या, शिक्षा, स्वास्थ्य और स्त्रियों से जुड़ी समस्याएँ दिनों-दिन गंभीर होती जा रही है|

आदिवासी शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है यथा-आदि और वासी| आदि का अर्थ 'मूल' और वासी का अर्थ 'निवासी' है| अतः आदिवासी से तात्पर्य धरती के मूल निवासी से है, जो घने जंगलों ऊँचे पर्वतों और दुर्गम घाटियों में निवास करते हैं| आदिवासी उन्हें कहते हैं जो सभ्य जगत से दूर पर्वतों और जंगलों में दुर्गम स्थानों पर निवास करते हैं, समान जनजातीय बोली का प्रयोग करते हैं, तथा अधिकांशतया मांस भक्षी तथा अर्द्धनग्न अवस्था में रहते हैं| आदिवासी का शाब्दिक अर्थ है आदिकाल से देश में रहने वाली जाति| भारत में आदिवासियों को अनेक नामों से पुकारा जाता है यथा- ऐबोरिजनल, इंडीजिनस, देशज, मूल निवासी, जनजाति, वनवासी, जंगली, गिरिजन, बर्बर आदि|

आदिवासी रचनाकार माया बोरसे के शब्दों में-"आदिवासी समाज ऐसा समाज है, जिसके नाम में ही उसकी पहचान छिपी हुई है| आदिवासी शब्द के लिए 'मूलनिवासी' शब्द का भी प्रयोग किया जाता है अर्थात आदिवासी समाज इस भूमि का मूल निवासी है और वही इस भूमि का उत्तराधिकारी भी है|"2

इम्पीरीयल गजेटियर के अनुसार- "एक आदिम जाति परिवारों का एक समूह है, जिसका एक सामान्य नाम होता है, जिसके सदस्य एक सामान्य भाषा बोलते हैं तथा एक सामान्य क्षेत्र में या तो वास्तव में रहते हैं या अपने को उसी क्षेत्र से संबंधित मानते हैं तथा ये समूह अंतर्विवाही होते हैं|"3

डॉ. मजूमदार ने आदिवासियों के बारे में कहा है कि "आदिवासी जनजाति परिवारों तथा पारिवारिक वर्गों का एक समूह है, जो सामान्य नाम धारण किए हुए है| इसके सभी सदस्य एक ही भूमि पर निवास करते हैं, और एक भाषा-भाषी, विवाह की प्रथाओं तथा कारोबार संबंधी एक ही नियम का पालन करते हैं| साधारणतः आदिवासी जनजाति अंतर्विवाह सिद्धांत का समर्थन करती है और उसके सभी सदस्य अपनी ही जनजाति के अंतर्गत विवाह करते हैं| कई गोत्र मिलकर आदिवासी जनजाति की रचना करते हैं| प्रत्येक गोत्र के सदस्यों का परस्पर रक्त संबंध जुड़ा होता है| इनमें या तो अनेक लघु वर्ग एक वृहत वर्ग में सम्मिलित हो जाते हैं, अन्यथा उनका वंश परंपरागत सरदार होता है| इस तरह आदिवासी जनजाति को एक राजनीतिक संघ भी माना जाता है|"4

डॉ.रमणिका गुप्ता के अनुसार- "बिना जंगल, जमीन, अपनी भाषा, जीवन शैली, मूल्यों के बिना आदिवासी, आदिवासी नहीं रह सकता| आदिवासी इस देश का मूल निवासी है|"5

डॉ. विनायक तुकाराम के शब्दों में आदिवासी शब्द की परिभाषा कुछ इस तरह से दी गई है-"एक विशेष पर्यावरण में रहने वाला, एक सी बोली बोलने वाला, समान जीवन शैली से सजा, एक से

देवी-देवताओं को मानने वाला, समान साँस्कृतिक जीवन यापन करने वाला परन्तु अक्षर ज्ञान रहित मानव समूह यानी आदिवासी हैं|"6

इस प्रकार इन तमाम विद्वानों के विचारों में काफी मतभेद भी पाया जाता है| बावजूद इसके भारत के अधिकाँश लोग इन्हें अनुसूचित जनजाति के नाम से ही जानते हैं| सामान्य रूप से आदिवासी उसे कहते हैं जो जंगलों में ही अपना गुजर बसर करते हैं| समान सामाजिक-साँस्कृतिक जीवन जीने की कोशिश करते हैं तथा जल, जंगल, जमीन से जुड़े होते हैं|

सामाजिक न्याय: अवधारणा, अर्थ एवं परिभाषा:

'न्याय' शब्द की उत्पत्ति लैटिन शब्द 'जस्टीशिया' से हुई है, जो अंग्रेजी शब्द जस्टिस का हिन्दी रूपांतर है| जिसका शाब्दिक अर्थ है जोड़ना| इस प्रकार न्याय के अर्थ के अंतर्गत विविध आदर्शों और मूल्यों का समायोजन या समन्वय किया जाता है| व्यावहारिक सन्दर्भ में इसका संबंध राज्य के कानून की धारणा से भी है, जिसके परिणामस्वरूप कानून या न्याय जुड़वाँ धारणाएँ बन जाती है, अर्थात न्याय का संबंध कानून व्यवस्था तथा सजा देने वाले नियमों की व्याख्या से भी संदर्भित होता है| सामान्य जीवन में न्याय से तात्पर्य होता है, निष्पक्षता, उचित या जो नैतिक रूप में उचित हो| निःसंदेह न्याय एक मूल्यपरक अवधारणा है, जो नैतिक रूप से अच्छा है, वही न्यायपूर्ण है, और जो अन्यायपूर्ण है, उसकी इस रूप में भर्त्सना की जाती है कि वह अनैतिक है|

वास्तव में न्याय अपने आप में एक ऐसी लचीली धारणा है जो भलाई अथवा कल्याण की किसी भी धारणा के साथ अनुकूलित की जा सकती है| सामान्य अर्थ में न्याय से तात्पर्य है कर्तव्य परायणता या सद्गुण| इसे सत्य और अनैतिकता के रूप में भी परिभाषित किया जा सकता है| ग्रीक चिन्तक प्लेटो ने न्याय को सद्गुण के रूप में परिभाषित किया है| उनके अनुसार न्याय किसी व्यक्ति को उसका हक़ दिलाना नहीं, अपितु समाज के विभिन्न वर्गों और वर्णों में न्यायपूर्ण समानुपात है| इसके विपरीत समतावादी दृष्टिकोण के अनुसार न्याय वहाँ स्थापित होता है, जहाँ समानता को सर्वप्रमुख महत्त्व प्रदान किया जाता है| मनुष्य जाति के इतिहास पर दृष्टि डालने से यह पता चलता है कि न्याय और अन्याय के बीच किसी भी तरह का स्पष्ट विभाजन करना बड़ा कठिन कार्य लग रहा है| न्याय और अन्याय इन दोनों का मूल्यांकन कभी भी सार्वकालिक और सार्वदेशिक नहीं किया जा सकता है| यह अतीत में लगातार बदलता रहता है, जिसके कारण मानव व्यवहार का एक बहुत बड़ा भाग न्याय और अन्याय के बीच झूलता रहा है| शताब्दियों तक भारतवासियों का जीवन धर्मशास्त्रों द्वारा ही निर्देशित होता रहा है, और अब संविधान के द्वारा संचालित हो रहा है| धर्मशास्त्रों में न्याय की जो अवधारणा है, वह संविधान में वर्णित न्याय की

अवधारणा से मूल रूप से भिन्न है| कई बातें जो धर्मशास्त्रों की दृष्टि से न्यायपूर्ण मानी जाती थीं अब वे संविधान के अनुसार अन्यायपूर्ण मानी जाती हैं|

वैसे तो न्याय की अवधारणा सार्वभौमिक भी नहीं है| यह बहुत कुछ संस्कृति सापेक्ष भी है| भारत के भील या नागा जनजाति या समाज में जो भी न्याय संगत समझा जाता है, वह भारत के हिन्दू समाज या अन्य भिन्न-भिन्न समाजों में न्याय के मापदंड एक जैसे नहीं है, और एक जैसे हो भी नहीं सकते हैं| इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि अलग-अलग समाजों की साँस्कृतिक संरचना अलग-अलग है| भिन्न-भिन्न समाजों के मूल्यों तथा आदर्शों में मौलिक अंतर होता है| इसी प्रकार "पूँजीवादी समाज में जो न्यायपूर्ण है वह साम्यवादी समाज में न्यायपूर्ण नहीं हो सकता| इसका कारण है कि दोनों प्रकार के समाजों की मूल्य और आदर्शों की संरचना में मौलिक अंतर पाया जाता है|"7

प्राचीन समय में न्याय के निर्धारण का एक मात्र आधार ईश्वर ही था| ईश्वर या किसी पैगंबर द्वारा जो कुछ भी कहा गया वह न्याय था| विवादस्पद प्रकरणों में संत, पीर, पादरी, मुल्ला, मौलवी, पुजारी, आदि का मत ही निर्णायक माना जाता था, क्योंकि इन्हें ईश्वरीय शक्ति से विभूषित माना जाता था| "ईश्वरीय शक्ति के सिद्धांत के आधार या नाम पर समाज के पुरोहित वर्ग का वर्चस्व था| किन्तु यह व्यवस्था लंबे समय तक नहीं चल पाई| कालान्तर में न्याय का आधार ईश्वरीय संसर्ग के स्थान पर शक्ति हो गई| शक्ति संपन्न होने के कारण राजा लौकिक जीवन में न्याय का प्रतीक बन गया|"8

राजतन्त्र का विकास वास्तविक रूप में ईश्वरतंत्र या धर्मतन्त्र की रक्षा के उद्देश्य से हुआ| इसके फलस्वरूप राजतन्त्र के युग में न्याय के निर्धारण तथा न्याय की स्थापना में सामंत तथा पुरोहित दोनों वर्गों की मिली-जुली हिस्सेदारी रही| पुरोहित वर्ग ने राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि प्रतिपादित किया, और धर्म के अनुसार समाज व्यवस्था करना राजा का मुख्य दायित्व हो गया, तथा धार्मिक कार्यों के संपादन और उसे संपन्न करवाने का दायित्व पुरोहित वर्ग के पास ही रहा| इस प्रकार प्राचीनकाल में न्याय और न्यायिक अधिकार, न्याय संबंधी नियमों का निर्माण, न्यायिक नियमों की व्याख्या, न्यायिक नियमों को लागू करने का अधिकार, समाज में सीमित लोगों के हाथों में ही था| कालान्तर में यह अधिकार केवल पुरुष वर्ग के पास रहा| धीरे-धीरे इसके आधार में विस्तार हुआ और पुरोहित वर्ग के साथ-साथ सामंत वर्ग भी इसमें हिस्सेदार बना| इस सामंतवर्ग की भागीदारी आरंभ में मात्र प्रतीकात्मक थी, किन्तु आगे चलकर न्याय संबंधी समस्त अधिकार राजा के ही हाथों में केन्द्रित हो गये| पुरोहित धीरे-धीरे अधिकाधिक राज्याश्रित होते गए| धीरे-धीरे उसकी

भूमिका रचनाकार एवं व्याख्याकार के स्थान पर पुष्टिकार में रूपांतरित होती गई| आगे चलकर विज्ञान के विकास के साथ-साथ चिन्तन के क्षेत्र में भी व्यक्ति स्वतंत्र हुआ| परिणामस्वरूप अनुभव,तर्क एवं युक्तिपरक तथा व्यक्ति के लौकिक आचरण के आधार बने| कुलीन अथवा अकुलीनता का दायरा सीमित हुआ| समाज में नई चेतना और जागृति आई, नवजागरण का भी सूत्रपात हुआ, फ्रांस में राज्यक्रान्ति हुई, औद्योगिक क्रान्ति ने भी पैर पसारे| स्वतन्त्रता, समानता और विश्वबंधुत्व के विचारों ने यूरोप सहित विश्व के अन्य देशों में राजतन्त्र एवं कुलीनतंत्र के विनाश के मार्ग को प्रशस्त किया| धर्म का क्षेत्र बहुत कुछ ईश्वर के चिंतन और उपासना तक सीमित हो गया|

सामाजिक न्याय की अवधारणा का विकास हुआ, समाज के नियम एवं विधान के निर्माण, उनकी व्याख्या तथा इन्हें लागू करने से संबंधित अधिकार के क्षेत्रों का विस्तार हुआ| अब न्यायिक अधिकार पुरोहित एवं सामंत वर्ग की बपौती नहीं रह गये| लोकतंत्र की स्थापना के साथ न्यायिक विकास के तीसरे चरण में वैधानिक एवं न्यायिक अधिकार पूर्ण रूप से जनसामान्य के हाथों में सौंप दिए गये| भारत में मुगल साम्राज्य का आखिरी दौर राजनैतिक निराशा और सामाजिक हताशा भरा था| प्रारंभ में अंग्रेजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने बंगाल में अपने पैर जमाए और थोड़े से समय में ही उसने शेष भारत पर अपना प्रभुत्त्व भी कायम कर लिया| न्याय का सिद्धांत प्लेटो के चिंतन का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण अंग है| जैसा कि बर्कर भी कहते हैं कि “न्याय प्लेटो के विचारों का मूल आधार है|”9

“रिपब्लिक में राज्य की स्थापना की पराकाष्ठा न्याय सबंधी सिद्धांत में है, न्याय वह सूत्र है जो समाज को बाँधे रखता है|”10

न्यायपूर्ण व्यवस्था की स्थापना के लिए उसने नागरिकों के कर्तव्यों पर बाल दिया| इसके लिए उसने नागरिकों के तीन वर्ग बताये हैं| दार्शनिक या शासक वर्ग, सैनिक वर्ग तथा पाठक वर्ग| उसने यह तर्क दिया कि जब ये तीनों वर्ग अपने-अपने कर्तव्यों का निर्वहन निष्ठापूर्वक करेंगे, तब राज्य व्यवस्था अपने आप न्याय पूर्ण हो जाएगी| न्याय सार्वजनिक सद्गुण भी है और व्यक्तिगत सद्गुण भी| न्याय एक ऐसा सद्गुण है जिसका विकास समाज तभी कर सकता है जब वह अविवेकपूर्ण साधारणजनों को साहसी योद्धा तथा विवेकशील दार्शनिक वर्ग के अधीन कर दे| प्लेटो की न्याय संबंधी परिभाषा यह है कि “प्रत्येक व्यक्ति को उसका प्राप्य उपलब्ध हो| व्यक्ति के लिए प्राप्य क्या है? इसका अभिप्राय यह है कि व्यक्ति के साथ उसकी योग्यता और शिक्षा-दीक्षा

के अनुसार ही व्यवहार होना चाहिए| व्यक्ति से क्या प्राप्त है इसका अभिप्राय यह है कि व्यक्ति की योग्यता के अनुसार उसे जो काम सौंपे जाएँ, उन्हें वे पूरी ईमानदारी के साथ करें|"11

प्लेटो के अनुसार न्याय का अर्थ है कि मनुष्य अपने उन सब कर्तव्यों का पूरा पालन करें, जिनका पालन समाज के प्रयोजनों की दृष्टि से किया जाना आवश्यक है| व्यक्तियों को उनकी योग्यताओं के अनुसार समाज और राज्य उनके लिए जिन कर्तव्यों और धर्मों का निर्धारण करते हैं, उनका यथावत पालन ही न्याय है, न्याय स्वधर्म पालन है| भारत में सामाजिक अन्याय का सर्वाधिक शिकार तो अछूत वर्ग ही था| यद्यपि अछूत देश की जनसंख्या के लगभग पन्द्रह प्रतिशत थे, तथापि आर्थिक और शैक्षणिक पिछड़ेपन के कारण समाज में उनकी स्थिति दासों से भी गई गुजरी हो गई थी| दासों के साथ कम से कम छुआछूत का बर्ताव तो नहीं होता था, जबकि इनको अछूत ही समझा जाता था| अछूत अज्ञानी तथा अन्धविश्वासी थे, क्योंकि उन्हें शिक्षा तथा ज्ञान प्राप्त करने का अधिकार बिल्कुल नहीं था| विविध निर्योग्यताओं के कारण समाज का यह भाग पशुवत जीवन व्यतीत कर रहा था|

भारत में सामाजिक न्याय की स्थापना के लिए किए गये संघर्ष का इतिहास डॉ. बाबासाहेब भीमराव अम्बेडकर के योगदानों का उल्लेख किए बिना तो पूरा ही नहीं हो सकता| अम्बेडकर एक संघर्षशील व्यक्तित्त्व के व्यक्ति थे, जिन्होंने सबको राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक न्याय दिलाने हेतु कड़ा संघर्ष किया| आधुनिक युग में न्यायपूर्ण समाज की रचना के लिए देश में जिन सुधारकों ने कार्य किया, उनमें से अधिकाँश को इस कार्य हेतु प्रेरणा परानुभूतिवश ही मिली| सिर्फ बाबा साहब भीमराव अम्बेडकर ही अकेले एक ऐसे व्यक्ति थे, जिन्हें यह स्वानुभूतिवश प्राप्त हुई| अछूत परिवार में जन्म लेने के कारण सामाजिक भेदभाव और तिरस्कार की जो पीड़ा अम्बेडकर साहब ने सहन की थी, वह किसी अन्य के बूते की बात नहीं थी| इसलिए सामाजिक अन्याय के विरुद्ध संघर्ष विशेष रूप में दलितों के उद्धार के लिए संघर्ष को उन्होंने अपने जीवन का प्रमुख लक्ष्य निर्धारित किया| बहुत ही स्पष्ट शब्दों में डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने यह कहा कि "जिस दलित जाति में पैदा हुआ, उसे मुक्ति दिलाना ही मेरे जीवन का उद्देश्य है, यदि मैं उस उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर सकता तो गोली मारकर अपना जीवन समाप्त कर दूंगा| यह स्वीकारोक्ति सामाजिक अन्याय के विरुद्ध संघर्ष के प्रति अम्बेडकर की प्रतिबद्धता और समर्पण को दर्शाती है| दलितों से उनका कहना था कि तुलसी की माला जपने अथवा रामभजन करने से कर्ज कम नहीं होगा, और न ही इससे लगान में कटौती कम होती है| तीर्थ करने से माहवारी वेतन नहीं मिला करता|"12

डॉ. अम्बेडकर यह मानते थे कि “समानता और सामाजिक न्याय की स्थापना का काम संतों के वश का नहीं है| उन्होंने बहुत स्पष्ट शब्दों में कहा कि संतों ने कभी जाति प्रथा या अस्पृश्यता के खिलाफ अभियान नहीं छेड़ा|”13

डॉ.भीमराव अम्बेडकर का ही कहना था कि “हम गुलामी की अवस्था को इसलिए प्राप्त हुए क्योंकि हमारे पास ज्ञान नहीं था और शक्ति नहीं थी| वे शिक्षा को शक्ति प्राप्ति का एक मात्र माध्यम मानते थे| लोकतांत्रिक व्यवस्था में शिक्षा लोगों को राजनैतिक दृष्टि से जागरूक बनाने तथा अपने हितों की रक्षा के लिए एकजुट होने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है, किन्तु इसके लिए एक राजनैतिक मंच और कुशल नेतृत्व की आवश्यकता होती है|”14

सामाजिक न्याय की स्थापना में डॉ. अम्बेडकर के अवदान की चर्चा करते समय उनके तत्संबंधी वैधानिक एवं संवैधानिक योगदान को भुलाया नहीं जा सकता| सामाजिक न्याय को प्राप्त करने में मौलिक अधिकारों का महत्त्वपूर्ण स्थान है| किसी भी राज्य के संविधान में इन्हें सम्मिलित कर दिए जाने से ये अधिकार बहुत हद तक अनुलंघनीय हो जाते हैं| मौलिक अधिकार के रूप में जो अधिकार प्राप्त किए गए थे, वे हैं कानून के समक्ष समानता, अवसर की समानता, अस्पृश्यता उन्मूलन स्वतन्त्रता का अधिकार, वाक् स्वतन्त्रता, सम्मलेन करने की स्वतन्त्रता, पेशा या वृत्ति करने की स्वतंत्रता, जीवन तथा वैयक्तिक स्वतन्त्रता की रक्षा, शोषण से सुरक्षा, किसी भी धर्म को मानने उसका अनुसरण करने तथा उसका प्रसार करने की स्वतन्त्रता, साँस्कृतिक तथा शिक्षा संबंधी अधिकार जिसके तहत अल्पसंख्यकों को अपने धर्मानुकूल आचरण करने अपनी संस्कृति तथा लिपि सुरक्षित रखने का अधिकार है|

सामाजिक न्याय के विचार ने वर्तमान युग में व्यक्ति की स्वतन्त्रता व समानता के विविध प्रावधानों के साथ रंग, लिंग व जन्मजात भेदभाव की समाप्ति तथा शोषण व बेगार की मुक्ति पर जोर दिया है| इस दिशा में विश्व के अधिकाँश देशों ने पहल की है| यद्यपि इस संबंध में संविधान में आवश्यक प्रावधान किए गये हैं, तथा आवश्यकतानुसार कानून भी बनाए गये हैं, तथापि विश्व के अधिकाँश भागों में अन्याय और अत्याचार को अभी तक समाप्त नहीं किया जा सका है| इसका एक प्रमुख कारण यह भी है कि सामाजिक न्याय के लिए प्रावधान करते समय केवल वैधानिक वर्ग को ही ध्यान में रखा गया, इस समस्या के भौतिक और व्यावहारिक पक्ष की अनदेखी की गई| इस तथ्य को ही भुला दिया गया कि जब तक व्यक्ति की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती तब तक उनकी मुक्ति के प्रयास अर्थपूर्ण और सार्थक कदापि नहीं हो सकते|

जीवित रहने हेतु जो बुनियादी आवश्यकताएं हैं, जब तक उनकी पूर्ति नहीं होती तब तक व्यक्ति के लिए स्वतन्त्रता और समानता संबंधी वैधानिक अधिकारों का कोई अर्थ नहीं निकल सकता| एक व्यक्ति जो खाने तक के लिए मोहताज है, जिसके पास रहने के लिए झोपड़ी तक नहीं है, तथा पहनने के लिए कपड़े नहीं हैं, वह अपने नियोक्ता मालिक से न्यूनतम मजदूरी की माँग भला कैसे कर सकता है? उसके लिए अपने बच्चों को स्कूल में दाखिला दिलाने और मंदिर में प्रवेश पाने से संबंधित अधिकार भला क्या अर्थ रखते हैं? ऐसे व्यक्ति के लिए अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता और अवसर की समानता का कोई अर्थ नहीं है| इसलिए सामाजिक न्याय की स्थापना का प्राथमिक और प्रमुख लक्ष्य तो यह होना चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति के अस्तित्त्व की रक्षा हो,तथा उसे विकास का समुचित अवसर भी प्राप्त हो| संविधान की प्रस्तावना पर दृष्टि डालने पर यह प्रतीत होता है कि सामाजिक न्याय की प्राप्ति के लिए अनुच्छेद 14 में विधि के समक्ष समता और विधियों का समान संरक्षण का प्रावधान किया गया|

अतः सामाजिक न्याय और मौलिक अधिकारों के बीच सार्थक तादात्म्य तब तक स्थापित नहीं हो सकता, जब तक कि अस्तित्त्व की रक्षा संबंधी न्यूनतम भरण-पोषण का अधिकार, अथवा कार्य का अधिकार एवं विकास के अवसर अथवा न्यूनतम जीवन स्तर की गारंटी संबंधी अधिकार व्यक्ति के मौलिक अधिकारों में सम्मिलित नहीं होते| स्वतन्त्रता और समानता सामाजिक न्याय के दो मूल आधार हैं| दोनों में से किसी एक का अभाव सामाजिक न्याय का अभाव ही है| स्वतन्त्रता व्यक्ति की अन्तर्निहित शक्तियों के विकास के लिए आवश्यक है| इस पर रोक लगाने से व्यक्ति की सृजनशील शक्तियों में कुंठा पैदा हो जाती है, तथा प्रतिस्पर्धा की भावना भी दब सी जाती है| कार्य के प्रति उसका उत्साह भी बहुत कम हो जाता है, इसके कारण व्यक्ति के साथ समाज के विकास में भी बाधा पहुँचती है|

यह स्थापित हो जाने पर कि स्वतन्त्रता और समानता दोनों ही सामाजिक न्याय के लिए आवश्यक है, एक कठनाई इस बात को लेकर आती है कि इन दोनों में किस अनुपात में संबंध हों? इस मुद्दे का हल ढूँढने के लिए हमें जीवन के दो स्तरों में स्पष्ट भेद करना होगा| जहाँ तक जीवन की बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति व विकास के लिए शिक्षा स्वास्थ्य एवं रोजगार संबंधी न्यूनतम अर्हताओं की पूर्ति का प्रश्न है, तो उसे समानता के निर्धारक सिद्धांत के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए| इसके पश्चात् सामाजिक लाभ का पुरस्कार का विभाजन और वितरण सामाजिक हित में व्यक्ति विशेष के योगदान को ध्यान में रखते हुए करना चाहिए| इस स्तर पर स्वतन्त्रता को निर्धारक सिद्धांत के रूप में स्वीकार करना ही अधिक उचित है| इस तरह से हम यह देखते हैं कि सामाजिक न्याय के जिस आदर्श रूप की अवधारणा संविधान में की गई थी उसको तमाम

कानूनों के बावजूद यहाँ तक कि न्यायालयों के निर्णयों में बार-बार दोहराए जाने के बावजूद अपेक्षित परिणाम नहीं मिल रहे हैं|

२१वीं सदी के आदिवासी हिन्दी उपन्यास:

आदिवासी साहित्य पर बात करने से पहले आदिवासी संकल्पना को समझना भी अत्यावश्यक हो जाता है| आदिवासी शब्द से स्पष्ट बोध होता है कि जो पहले से यहाँ हो रहा हो, या जो आदिवासी रहे हों| इन्हें संविधान की पांचवी अनुसूची में 'जनजातियाँ' शब्द से परिभाषित किया है| साथ ही इन्हें वनवासी, आत्विका, गिरिजन, वन्यजाति, या आदिम जाति भी कहा जाता है| इस संकल्पना पर प्रकाश डालने वाले जेकब्स तथा स्टर्न की परिभाषा याद आती है| वे कहते हैं कि "एक ऐसा ग्रामीण समुदाय या ग्रामीण समुदायों का ऐसा समूह जिसकी समान भूमि हो, समान भाषा हो, समान साँस्कृतिक विरासत हो और जिस समुदाय के व्यक्तियों का जीवन आर्थिक दृष्टि से एक-दूसरे के साथ ओत-प्रोत हो, जनजाति कहलाता है|"14

आदिवासी साहित्य उन वनों, जंगलों में रहने वाले वंचितों का साहित्य है, जिनके प्रश्नों का अतीत में कभी उत्तर ही नहीं दिया गया| यह एक ऐसे दुर्लाक्षितों का साहित्य है जिनके आक्रोश की ओर यहाँ की समाज व्यवस्था ने कभी कान ही नहीं दिए| उनकी समस्याओं की उपेक्षा और उन्हें सभी समाज से अलग समझे जाने के कारण आज उनका अस्तित्त्व खतरे में नजर आ रहा है| पानी के बगैर मछली का कोई अस्तित्त्व नहीं उसी प्रकार जंगल के बगैर आदिम मानव का अस्तित्त्व भी न के बराबर है| भारत में अनेक जनजातियाँ हैं, जिन्हें सात विभागों में बाँटा जा सकता है- उत्तर, पूर्वोत्तर, पूर्वी, मध्य, पश्चिम, दक्षिण और द्वीपीय क्षेत्र| आदिवासियों का अपना धर्म है, वे प्रकृति के पूजक हैं| उनमें से कुछ लोगों ने हिन्दू, ईसाई, बौद्ध, एवं इस्लाम धर्म भी अपनाया है| भारत में प्रमुख रूप से भील, गोंड़, संथाल, मीजो, असुर, न्यीसी, हो, गालो, गोमपा, तागीन, खामती, मेमबा, नाक्टे, कंजर, कबूतरा, मुंडा, सांसी, नट, मदारी, सँपेरे, दरवेशी, पासी, बोरी, समोड़, कोल, पादाम, देववर्मा, बेड़िया, रियांग, चकमा, डोंबरी, कोली, पार्थी, मीणा, गरसिया, सहरिया, लेपचा, थारू, उराँव, बोंडा आदि जनजातियाँ आदिवासी जनजातियाँ हैं| ऐसे अनेक आदिवासियों को केंद्र में रखकर भारतीय स्तर पर अनेक भाषाओँ में साहित्य लिखा जा रहा है| ऐसी स्थिति में भला राष्ट्रभाषा हिन्दी कैसे पीछे रह सकती है?

हिन्दी में आदिवासियों पर अनेक विधाओं में साहित्य सृजन का आरंभ हुआ है, भले ही वह अभी सशक्त न हो| साहित्य की अन्य विधाओं की तुलना में कथा साहित्य में लेखन का औसत कुछ ज्यादा है, और उसमें भी उपन्यास विधा सशक्त दिखाई देती है| हिन्दी के आदिवासी उपन्यासों

का जब अध्ययन करते हैं तो स्पष्ट होता है कि उपन्यासकारों ने उन पहलुओं को उजागर किया है, जिन पर अब तक किसी ने प्रकाश नहीं डाला था| हिन्दी उपन्यासकार कहते हैं कि आदिवासी यहाँ के मूल निवासी होकर भी उन्हें उपेक्षित का जीवन जीना पड़ रहा है| उन्हें यहाँ की समाज व्यवस्था ने हाशिए पर रखकर आज भी आदिम रूप में जंगलों में रहने के लिए बाध्य किया है| उन तक मूलभूत सुविधाओं को भी पहुँचने नहीं दिया| यह जनजातियाँ आज भी वरुण, सिंगबोंगा जैसे देवताओं के चक्रव्यूह में फँसी गिरि-कंदराओं में पीढ़ी दर पीढ़ी जीवन जी रही हैं| उन्हें औद्योगीकरण के नाम पर जल, जमीन, जंगलों से निर्वासित किया जा रहा है| ऐसी अनेक समस्याओं को हिन्दी उपन्यासकारों ने उकेरा है और इन्हें हाशिए से निकलकर हम भी मानव है, हमें भी उतना ही हक है, जितना यहाँ के गाँवों में, नगरों में रह रहे मानवों को है, इसका सन्देश आदिवासियों एवं अभिजात जातियों, धर्मों के लोगों को दिया है|

उपन्यासकार केवल आदिवासियों की जीवन समस्याओं, शोषण को ही नहीं उनके सामाजिक-साँस्कृतिक जीवन को, उत्सव, पर्व-त्यौहार, अन्धविश्वास, आवास-निवास, रूढ़ि, परंपरा, आचार-विचार, संस्थान आदि को भी हमारे सामने रखते हैं| इक्कीसवीं सदी में लिखे गये, आदिवासी हिन्दी उपन्यासों पर चर्चा करने से पूर्व बीसवीं सदी में लिखे आदिवासी जीवन केन्द्रित उपन्यासों पर दृष्टिक्षेप करना असंगत न होगा| बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में मुख्यतः आदिवासियों को हिन्दी उपन्यासों में मुख्य रूप से स्थान मिला है| जिनमें इन उपन्यासों के नाम लिए जा सकते है-“ रथ के पहिए-1952 देवेन्द्र सत्यार्थी, कब तक पुकारूँ-1958 रांगेय राघव, सूरज किरण की छाँव-1958 राजेन्द्र अवस्थी, जंगल के फूल-1969 राजेन्द्र अवस्थी, जंगल के आसपास-1985 राकेश वत्स, शैलूष-1986 शिवप्रसाद सिंह, धार-1990 संजीव, गगन घटा घहरानी-1991 मनमोहन पाठक, पाँव तले की डूब-1995 संजीव, जहाँ बाँस फूलते-1997 श्री प्रकाश मिश्र, अल्मा कबूतरी-2000 मैत्रेयी पुष्पा, जंगल जहाँ शुरू होता है-2000 संजीव, सावधान नीचे आग है-2000 संजीव आदि|

बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में लिखे इन उपन्यासों में करनटों, नटों, संथाल, उराँव, कबूतरा, मुंडा, गोंड, मिजो आदि जनजातियों के सामाजिक, साँस्कृतिक, जीवन के साथ-साथ उन पर हो रहे अन्याय-अत्याचार, शोषण, पिछड़ेपन को भी उपन्यासकारों ने भी अभिव्यक्त किया है| बीसवीं सदी के उपन्यासकार स्वतंत्रता के बाद सामंतवादी, अर्द्ध सामंतवादी, पूँजीवादी व्यवस्था में फँसे आदिवासियों की त्रासदी को प्रामाणिकता के साथ उजागर कर रहे हैं|

बीसवीं सदी के इन उपन्यासों की इस परंपरा को आगे बढाने वाले और आदिवासी शोषण के विरुद्ध आवाज बुलंद करने वाले उपन्यास इक्कीसवीं सदी में लिखे जा रहे हैं| 21वीं सदी के ये उपन्यास

ग्लोबल गाँव के देवताओं, दीकू और कज्जाओं, के शोषण को बड़ी संवेदनशीलता के साथ उजागर करते हैं| जो क्रमशः इस प्रकार हैं- आदिभूमि-प्रतिभा राय-2002, काला पादरी-तेजिंदर-2002, पठार पर कोहरा-राकेश कुमार सिंह-2003, धूणी तपे तीर-हरिराम मीणा-2008, ग्लोबल गाँव के देवता-रणेंद्र-2009, पिछले पन्ने की औरत-शरद सिंह-2005, मरंग गोडा नीलकंठ हुआ-महुआ माजी-2012, गायब होता देश-रणेंद्र-2014, तथा महाअरण्य में गिद्ध-राकेश कुमार सिंह-2015 आदि|

प्रतिभाराय का उपन्यास आदिभूमि उड़ीसा के आदिवासी 'बोंडा' पर लिखा गया है| यह उपन्यास बोंडा जनजाति के जीवन-व्यवहार, हिंसा, प्रतिहिंसा, प्रतिरोध, सरलता, लोकरूढ़ि, लोकविश्वास, स्त्री-पुरुष संबंध, स्त्री शोषण आदि को सशक्त रूप में उजागर करता है| स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भी इनके शोषण का सिलसिला जारी होने के सत्य को प्रतिभा राय जी उजागर करती हैं| उनके इस उपन्यास में सरकारी योजनाओं जैसे इंदिरा आवास योजना, साक्षरता, आदि की धोखाधड़ी झूठ-फरेब, भ्रष्टाचार, स्त्रियों का यौन शोषण आदि को अभिव्यक्त किया है| उपन्यास में शिक्षा के प्रति आदिवासियों की रूचि बढ़े इसलिए मास्टर सीतानाथ के माध्यम से प्रतिभा राय अपनी बात रखती हैं| आदिवासी इलाके में समाज सुधार करना आसान नहीं है, क्योंकि कई लोगों के स्वार्थ वहाँ पर अटके हुए होते हैं| उनमें प्रशासक, बी.डी,ओ, पुलिस, राजनेता, एम.एल.ए जैसे लोगों का समावेश होने की बात भी लेखिका ने की है| उपन्यास का प्रमुख चरित्र सीतानाथ कहता है कि "अपनी निष्ठा के बल पर इस जंगली झुण्ड को आदमी बनाने पर तुला हुआ है|"15

किन्तु अवसरवादी उसका तबादला दूसरी जगह कर देते हैं, इस प्रकार आदिवासी जीवन समस्याओं के साथ-साथ प्रकृति की संपन्नता को भी प्रतिभा राय उजागर करती हुई दिखाई देती हैं| कथाकार तेजिंदर का चर्चित उपन्यास 'काला पादरी' मध्य प्रदेश की 'उराँव' जनजाति की समस्याओं को व्यक्त करने वाला उपन्यास है| इसमें लेखक आदिवासियों का उपनिवेशिक व्यवस्था में फँसे होने की वास्तविकता को सामने रखता है| साथ ही आदिवासी भूख, अभाव, दारिद्रय, शोषण आदि से परेशान होकर ईसाई, बौद्ध, हिन्दू धर्म में दीक्षित होने के ऐतिहासिक वास्तविकता की ओर भी इशारा करता है| आदिवासियों के भूख, अभाव और दारिद्रय को व्यक्त करता हुआ वह लिखता है "साहब रात में बच्चा मर गया| उसकी माँ ने कई दिनों से कुछ खाया नहीं था| उसको गोद में लेकर उसकी माँ भी मर गई| उसने भी कई दिनों से कुछ नहीं खाया था|"16

इस उपन्यास में भूख को मिटाने के लिए जहरीली वनस्पतियाँ, बूटियाँ और बिल्लियों का मांस खाने का सच भी सामने आया है| "वास्तव में 'काला पादरी' उपन्यास में भारत के सर्वाधिक उत्पीडित व उपेक्षित आदिवासियों की जीवन स्थितियों के अनेक पहलुओं को लेखक ने

समाजशास्त्रीय दृष्टि किन्तु साथ-साथ ही लेखकीय संवेदना से इस ढंग से चित्रित किया है कि भारतीय समाज की जटिलता भी उभरकर सामने आती है और साथ ही आदिवासियों के जीवन की पीड़ा का मार्मिक अंकन भी लेखक की कलम से होता चलता है|"17

इसी क्रम में चर्चित कथाकार राकेश कुमार सिंह का उपन्यास 'पठार पर कोहरा' झारखंड के 'मुंडा' आदिवासियों की करूण कथा है| उपन्यासकार राकेश कुमार सिंह ने आजादी के बाद भी आदिवासियों के जीवन से जुड़ी समस्याओं का कोहरा न छँटने की बात उपन्यास में की है| उपन्यास में साहू बाबू और बंदूकधारी संस्कृति की पोल खोल दी है, जो अंग्रेजों के झारखंड छोड़ने पर शोषण का काम कर रहे हैं| इस उपन्यास में सरकारी योजनाओं के भ्रष्टाचार का भंडाफोड़ भी किया गया है| राजीव गाँधी की सरकारी योजनाओं के बारे में दस प्रतिशत वाली बात को उपन्यासकार आदिवासियों की योजनाओं में हो रहे भ्रष्टाचार के रूप में कुछ इस तरह से व्यक्त किया है- "आजादी के बाद आदिवासियों के कल्याण की सैकड़ों योजनाएँ बनी हैं, पर उनके क्रियान्वयन का क्या हुआ? आबंटित राशि का दस प्रतिशत भी देश के आदिवासियों तक नहीं पहुँच रहा है| कई योजनाएँ कागज पर चलती रहती हैं| कई योजनाएँ तो फाईलों की कब्र में ही दफन हो गईं..यदि अफसरशाही और राजनीति का यही तालमेल कायम रहा तो पता नहीं कितने समय तक आदिवासी समाज इसी तरह अपढ़, असंस्कृत, भूखा, नंगा, शोषित,,उपेक्षित और लोकतंत्र के ज्ञान एवं विज्ञान से कटा रहेगा|"18

राकेश कुमार सिंह के इस उपन्यास में परेशानियों से घिरी एक लड़की की जद्दोजहद भी है, नारी मुक्ति की आकांक्षा भी है और मुंडा जनजाति के शोषण, उत्पीड़न, अभाव, अन्याय-अत्याचार की वास्तविकताएं भी हैं| यह उपन्यास सिर्फ शोषण की बात ही नहीं करता है बल्कि शोषण के विरोध में आवाज भी उठाता है| हरिराम मीणा का चर्चित उपन्यास 'घूणी तपे तीर' 17 नवम्बर 1913 के दिन घटित मानगढ़ राजस्थान की घटना पर आधारित उपन्यास है| इस घटना की ओर इतिहासकारों ने बिल्कुल अनदेखा कर दिया था| अपने इस उपन्यास के माध्यम से हरिराम मीणा ने 'भीलों-मीणों' के ऐतिहासिक योगदानों को उजागर करने की कोशिश की है| उपन्यास के केंद्र में गोविन्द गुरू का ऐतिहासिक योगदान है| उपन्यास में हरिराम मीणा ने यह स्पष्ट करने की कोशिश की है कि कैसे गोविन्द गुरू ने मीणों को संगठित किया, उनमें कैसी जागृति भर दी, उन्हें बलिदान के लिए कैसे तैयार किया, यही इस उपन्यास की कथावस्तु भी है|

उपन्यास पर प्रकाश डालते हुए खुद हरिराम मीणा लिखते हैं कि "देश का पहला जलियाँवाला काण्ड अमृतसर 1919 से छः वर्ष पूर्व दक्षिणी राजस्थान के बाँसवाड़ा जिला के मानगढ़ पर्वत पर घटित हो चुका था जिसमें जलियाँवाला से चार गुणा शहादत हुई थी|"19

इतिहास से उपेक्षित घटना को न्याय दिलाने की उपन्यासकार की कोशिश निश्चित रूप वन्दनीय है| चर्चित कथाकार रणेंद्र का चर्चित उपन्यास 'ग्लोबल गाँव के देवता' झारखंड के 'असुर' जनजातियों के शोषण, विस्थापन को उजागर करता है| आज के इस वैश्वीकरण के युग में एक ओर हम विकास कर रहे हैं तो दूसरी ओर प्राकृतिक संसाधनों का अमर्यादित उपयोग करके प्रकृति को दूषित कर रहे हैं| वहाँ के आदिवासियों, वनवासियों को उनके जंगलों से ही खदेड़ दे रहे हैं| इसी अमानवीय बातों को रणेंद्र ने इस उपन्यास में अभिव्यक्त किया है| उपन्यास में असुर अर्थात राक्षस, बड़े-बड़े दांतों-सींगों वाले किसी जीव ने इस संकल्पना को भी तोड़ा है| उपन्यास में वैश्वीकरण, औद्योगीकरण के कारण आदिवासियों पर हो रहे अन्याय-अत्याचार को भी व्यक्त किया गया है| रणेंद्र स्वयं लिखते हैं कि "आकाशचारी देवताओं को जब अपने आकाशमार्ग से या सैटेलाइट की आँखों से छतीसगढ़, उड़ीसा, मध्य प्रदेश, झारखण्ड आदि राज्यों की खनिज संपदा, जंगल और अन्य संसाधन दिखते हैं तो उन्हें लगता है कि राष्ट्र-राज्य तो वे ही हैं, तो हक तो उनका ही हुआ| सो इन खनिजों पर, जंगलों में, घूमते हुए लँगोट पहने असुर बिरिजिया, उराँव-मुण्डा आदिवासी दलित सदान दिखते हैं तो उन्हें बहुत कोफ़्त होती है| वे इन कीड़ों-मकोड़ों से जल्द निजात पाना चाहते हैं|"20

इस उपन्यास में ग्लोबल गाँव के देवताओं में उद्योगपति, पूंजीपति, पुलिस, व्यावसायिक, राजनेता, ठेकेदार, आदि आकाशचारियों का समावेश है| जो आदिवासियों का इस वैश्वीकरण के युग में शोषण कर रहे हैं| इस उपन्यास में शोषण के साथ-साथ आदिवासी संस्कृतियों के बारे में भी जानकारी मिलती है| उसमें व्याप्त अन्धविश्वास, विवाह पद्वति, स्त्री-पुरुष संबंध, पौराणिक मिथक, प्रकृति पूजा आदि स्पष्ट रूप से उपन्यास में व्यक्त हुए हैं|

'पिछले पन्ने की औरत' शरद सिंह का शोधपरक उपन्यास है, इस उपन्यास का प्रकाशन सन 2009 ई. में हुआ था| यह उपन्यास मध्यप्रदेश के बुन्देलखण्ड इलाके के बेड़िया समुदाय की स्त्रियों के जीवन पर आधारित है| लेखिका ने बेड़िया समुदाय के 'इतिहास, संस्मरणों, लोक कथाओं एवं किंवदंतियों' के माध्यम से बेड़िया स्त्री के जीवन के नंगे यथार्थ को उपन्यास में चित्रित किया है| लोक प्रचलित किस्सों एवं स्वयं के अनुभव के वर्णन के साथ-साथ अध्ययनपरक तथ्यों के विश्लेषण ने इस उपन्यास ने एक समस्या केन्द्रित उपन्यास बना दिया है, जिसकी प्रामाणिकता पर संदेह नहीं किया जा सकता| बेड़िया समुदाय की उत्पत्ति, विकास, उसका राजनैतिक संबंध, वर्तमान स्वरूप

एवं भारतीय संविधान में उसकी स्थिति इन सभी पहलुओं पर इस उपन्यास में विस्तार से प्रकाश डालने की कोशिश की गई है| भारत की अन्य खानाबदोश जनजातियों की तरह बेड़िया जनजाति भी घुमंतू जाति है| "अंग्रेज अधिकारी आर.बी. रसेल ने बेड़ियों के बारे में सन 1916 ई. में टिप्पणी करते हुए लिखा था कि जिप्सियों की भांति पीढ़ी-दर-पीढ़ी खानाबदोश एवं जन्मजात घुमक्कड़ समूहों को बेड़िया कहा जाता है|"21

वर्तमान समय में बेड़िया समुदाय मध्यप्रदेश के सागर जिले और उसके आस-पास और विशेषतः 'पथरिया बेड़िनी' नामक गाँव में बसा हुआ है जिसका नाम इसके समुदाय के नाम पर पड़ा है| रसूबाई नाम की एक बेड़िनी पर दिल आ जाने के कारण सागर जिले के एक बड़ी जमींदार ने उन्हें अपनी जमीन पर बसाया और उन्हें संरक्षण प्रदान किया| इस समाज की स्त्रियाँ 'राई' नृत्य नाचती हैं, और इसी नृत्य के लिए वह लोक प्रसिद्ध भी हैं| बुन्देलखण्ड के इलाके में सामाजिक-पारिवारिक उत्सवों में राई का नाच प्रसिद्ध और इसके लिए बेडिनियों को विशेष रूप से बुलाया जाता है| द्वार पर बेड़िनी का नाच यहाँ सामाजिक प्रतिष्ठा का प्रतीक माना जाता है| बेड़िया समाज में स्त्री की हैसियत पुरुष की अपेक्षा अधिक महत्त्व रखती है क्योंकि समाज की मुख्य आर्थिक स्रोत यहाँ की बेड़िनी स्त्रियाँ ही हैं| बेड़िनी स्त्रियाँ टोली बनाकर राई नाचने जाती हैं जिसमें मुख्य भूमिका नर्तकी की होती है| वह अपने नृत्य कौशल के बल पर दर्शकों से ज्यादा पैसे निकलवा लेती हैं| उनके माध्यम से ही उनके टोली के गाने-बजाने वाले पुरुषों को भी रोजगार मिल जाता है| अतः बेड़िनियों का महत्त्व इस समाज में अधिक है|

बेड़िया समाज में कोई भी स्त्री जानबूझकर शरीर विक्रय नहीं करती, न ही रखैल बनना चाहती है और न ही नृत्य करना चाहती है| इनकी पिछड़ी स्थिति, अशिक्षा, आर्थिक विपन्नता एवं परंपराएँ इन्हें इस ओर ले जाने हेतु विवश करती हैं| परंपरा से ही ऐसा हो रहा है, इसीलिए इसमें उन्हें कुछ गलत नहीं लगता है| देश की आज़ादी को सालों गुजर चुके परन्तु बेड़िनियों की स्थितियों में कोई अंतर नहीं आया, उनका नृत्य और रखैल बनाया जाना धनिकों के लिए गौरव की बात होती है| तीन भागों और कुल सत्ताईस उपभागो में लिखे गये इस उपन्यास में कोई नायिका नहीं है, उपन्यास के हर हिस्से में स्त्री पात्र बदलती रही है| किसी स्त्री की वेदना एवं पीड़ा को रिपोर्ताज शैली में लेखन करना लेखिका शरद सिंह की कुशल लेखन कला का द्योतक है| विभिन्न औरतों से होकर समग्र भारतीय औरतों के अस्तित्त्व तथा अधिकार पर लेखिका ने प्रकाश डाला है| औरतों को अपने अस्तित्त्व की तलाश करनी ही होगी| पुरुष उसे तलाशने में मदद करने का नाटक कर उसे भटका सकता है| अतः उसके मदद के बिना आधी दुनिया होने के कारण वे आधी दुनिया की ही हकदार हैं| 'पिछले पन्ने की औरत' उपन्यास में चित्रित संपूर्ण औरतों के मन में सादगी भरा जीवन जीने

की मंशा है| उन्हें भी लगता है कि उनका भी एक पति और घर हो, उनके बच्चों को उनके पिता का नाम मिले, वे पढ़ें-लिखें|

परन्तु इस उपन्यास में यह तथ्य भी सामने आता है कि सारे प्रयासों के बावजूद उन बेड़िनियों के बच्चे उसी दलदल में दुबारा फँस जाते हैं| इतिहास और परंपरा कभी भी उनका पीछा नहीं छोड़ती| शरद सिंह नें पात्रों को दुबारा दलदल में फँसने का यथार्थपरक वर्णन किया है, किन्तु कुछ पात्र सलामती से दबाओं और परंपराओं को तोड़कर आत्मविश्वास से उड़ान भरने में सफलता हासिल करने का चित्रांकन भी किया है| अपने जीवन में पिछले पन्नों से मुख्य पृष्ठों में जगह हासिल करनी है तो जीवट, धैर्य, आत्मविश्वास, ईमानदारी और ज्ञान की आवश्यकता है, अगर बेड़िनियाँ यह सबकुछ आसानी से पा जाएँ तो वे 'पिछले पन्ने की औरतें' कभी नही कही जाएँगी|

आदिवासी जीवन का संबंध प्रकृति से रहा है और प्रकृति ही उनकी निजी पहचान भी है, परन्तु आज उनका अस्तित्त्व खतरे में नजर आ रहा है| 'मरंग गोडा नीलकंठ हुआ' उपन्यास के माध्यम से हम यहाँ उनके जीवन में आने वाले संकटों का चित्रण देख सकते हैं| आधुनिकता की दौड़ में विचार और शैलियाँ जीवन को जो अर्थ देने लगी हैं, आदिवासी उनमें ठगे से जा रहे हैं और अपनी ही जमीन से काट दिए जा रहे हैं| विकास की रफ्तार ज़रूरी है पर सवाल यह है कि यह विकास किसके लिए और किसकी कीमत पर| इस उपन्यास का मूल विचारणीय सवाल यही है| महुआ माजी का 'मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ' झारखंड के 'हो' आदिवासी जनजाति को केंद्र में रखकर लिखा गया उपन्यास है| इस उपन्यास में मुख्यतः अणु-परमाणु, नाभिकीय ऊर्जा के आदिवासी जीवन पर हो रहे दुष्परिणामों की ओर ध्यान खींचा है| कथाकार रणेंद्र ने इस कृति को वैज्ञानिक संस्थानों के गहन झूठ के खिलाफ हिंदी में लिखी पहली कृति माना है| "जादूगोड़ा इस उपन्यास में (मरंगगोड़ा) हाबड़ा मुंबई रेल लाइन पर टाटा नगर जमशेदपुर रेलवे स्टेशन से 24 किलोमीटर की दूरी पर है| 1967 ई. से युरेनियम कारपोरेशन ऑफ़ इण्डिया लिमिटेड यहाँ की खदानों से यूरेनियम का खनन करवा रहा है जिसका शोधन भी जादूगोड़ा में ही होता है| प्रतिवर्ष तीन लाख टन रेडियोधर्मी कचरे की डंपिंग भी इसी इलाके में होती है| खदान से निकलने वाला कचरा इसमें दस गुणा ज्यादा यानी तीस लाख टन प्रतिवर्ष होता है|"22

आज विकास की अंधी दौड़ में हम प्राकृतिक प्रदूषण तो कर ही रहे हैं साथ ही आदिवासियों के जीवन पर विचार न करते हुए अणु-परमाणु और विकिरण युक्त कचरे को आदिवासी इलाके में ले जाकर डंपिंग कर रहे हैं, जो आदिवासियों की पीढ़ियों को बर्बाद कर रहा है| महुआ माजी ने अपने इस उपन्यास के माध्यम से इस समस्या के विरोध में आवाज उठाई है| 'मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ'

उपन्यास के मूल में समस्या विकिरण, प्रदूषण और विस्थापन की है| यह समस्या उत्पन्न होने का कारण देखें तो देश का विकास ही है| विकास के क्रम में केवल सभ्य समाज विकसित होता है परन्तु आदिवासियों की स्थिति का चित्रण इस उपन्यास में मिलता है| 'मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ' उपन्यास दर्द का महाकाव्य है| उपन्यास में विकास के दर्द को बेहद नाजुक तरीके से अभिव्यक्त किया गया है| इसमें लेखिका एक्टिविस्ट बनकर यूरेनियम खदानों के आसपास जाती है और सारंडा के जंगल में विचरण करती है|

इसी क्रम में कथाकार रणेंद्र द्वारा रचित एक अन्य उपन्यास का प्रकाशन 2014 में हुआ है| इस उपन्यास की पहचान आदिवासी उपन्यास के रूप में ही हुई है| वैसे तो रणेंद्र का पहला उपन्यास 'ग्लोबल गाँव का देवता' भी आदिवासी जनजाति यानि की असुर जनजाति की समस्याओं का चित्रण करता है| 'गायब होता देश' आदिवासी समाज अर्थात झारखंड की मुंडा जनजाति को केंद्र में रखकर लिखा गया है| इस उपन्यास में किस तरह आदिवासियों के जल, जंगल, जमीन पर जबर्दस्ती अधिकार किया जाता है, यह दर्शाया गया है| मूलतः यह उपन्यास डायरी शैली में लिखा गया है| वैसे यह उपन्यास विकास विरोधी हलचलों को भी दिखाने का प्रयत्न करता है, साथ ही किस तरीके से विकास हो रहा है और विकास की आड़ में आदिवासियों को बहलाया जाता है, उसी का चित्रण इसमें किया गया है|

'गायब होता देश' में पत्रकारिता के बदलते रवैये या यों कहें पूँजीवादी सभ्यता के आगे लाचार और बेबस पत्रकारिता का भ्रष्ट चेहरा भी देखने को मिलता है, उसके ऊपर भी सवाल उठाया गया है| "जिस व्यक्ति ने अपनी उम्र के बेशकीमती बीस साल पत्रकारिता में गुजारे, उनके प्रति अपनी पत्रकार बिरादरी का ही रुख कुछ अजीब सा था| अखबारों के स्थानीय संस्करणों और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के लोकल चैनल्स उनके प्रति यहाँ तक की उनकी मृत्यु के प्रति भी कतई उदार नहीं दिख रहे थे| दिवंगत किसान विद्रोही के ज्ञात-अज्ञात महिला मित्रों की खोज की जा रही थी| उसकी छवि एक ब्लैकमेलर कामलोलुप और ड्रग सप्लायर की बनाई जा रही थी|"23

इसी प्रकार 'महाअरण्य में गिद्ध' एक आँचलिक उपन्यास है, जिसमें स्वयं झारखंड के धरती पुत्र राकेश कुमार सिंह ने कतिपय तथ्यों के आधार पर सधारणीकृत करते हुए आदिवासियों के दुखते फफोलों को उघाडा है| भारत सरकार की एक दर्दीली नस नक्सलवाद है| तथाकथित विकास के झूठे सच ने हर वास्तविक सच को नजरअंदाज करके अधिकतम आबादी को हाशिए पर धकेल दिया है, जहाँ लोग जीने मात्र के लिए संघर्ष कर रहे हैं| यह हाशिया लगातार बढ़ रहा है| यों तो विकास परियोजनाओं का शिकार हर कमजोर आदमी हो रहा है, पर इसका सर्वाधिक विध्वंसक असर

आदिवासियों पर पड़ रहा है| विकास ही उनके लिए विनाश का पर्याय बन चुका है| राकेश कुमार सिंह का उपन्यास 'महाअरण्य में गिद्ध' आदिवासियों के बहुस्तरीय विनाश का बहुआयामी आख्यान भी है|

'महाअरण्य में गिद्ध' उपन्यास का भूगोल वर्तमान झारखंड के पलामू जिले का 'महुआटांड' प्रखंड है| इसका नायक बचानी मुर्मू नामक आदिवासी है, जो घोर अत्याचारी स्थानीय जमींदार प्रभुदयाल शाहदेव का अतिविश्वस्त नौकर था| पूरे इलाके में जमींदार का ही आतंक था| इस उपन्यास में लेखक राकेश कुमार सिंह जी ने अद्भुत किस्सागोई का परिचय देते हुए अनेक घटनाओं और प्रकरणों को परस्पर गुंफित कर मुख्य कथा से जोड़ दिया है| उपन्यास समाज, राजनीति, और संस्कृति तीनों को एक साथ संबोधित करता है, किन्तु सबकुछ साहित्य के स्वधर्म की रक्षा करते हुए| उपन्यास के कथानक में कहीं कोई बिखराव नहीं है, दूसरे उपन्यासों की तुलना में यह इसलिए भी अलग है क्योंकि इसमें गैर आदिवासियों और आदिवासियों के संपर्क और संघर्ष के राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक तथा साँस्कृतिक परिणामों का सूक्ष्म और विस्तृत विवेचन भी है| इस उपन्यास में आये पात्रों और घटनाओं के माध्यम से यह बार-बार रेखांकित किया गया है कि दीकू (गैर आदिवासी) अपने अंतिम निष्कर्षों में आखिरकार दीकू ही साबित होते हैं| आदिवासियों के लिए सहानुभूति और उनके कार्यों के पीछे की असली मंशा कुछ और ही होती है| आदिवासियों को प्रत्यक्षतः लूटने वाला गोमके प्रभुदयाल शाहदेव हो या सरकारी फेलोशिप लेकर आदिवासियों पर शोध करने वाला कामरेड योगराज जोशी, महुआटांड प्रखंड का बी.डी.ओ सुबीर झा या भूमिगत संगठन झामुद का मुखिया कालीपद दत्त सभी आदिवासियों को छलने वाले ही सिद्ध होते हैं|

इस प्रकार हिन्दी आदिवासी साहित्य पर जब हम विचार करते हैं तो हमें विशेष रूप से 21वीं सदी के आदिवासी उपन्यास अधिक आकर्षित करते हैं| इसकी ख़ास वजह है कि ये उपन्यास केवल आदिवासियों के साँस्कृतिक, प्राकृतिक जीवन को व्यक्त नहीं करते तो वैश्वीकरण, बाजारीकरण के युग में आदिवासियों के सामने आ रही नवीन समस्याओं को सामने रखते हैं और उनसे कैसे निपटा जा सकता है इसका सुझाव भी देते हैं|

इतिहास भी कभी-कभी अपने समय और समाज के साथ न्याय नहीं कर पाता है और कुछ प्रश्नों को अँधेरे में रखकर हमें पुनः अतीत में लौटने को मजबूर करता है| आदिवासी अस्मिता मूलक प्रश्न एक ऐसा ही प्रश्न है जो कई दशकों के बीत जाने के बावजूद अपने जीवन और मूल्यों को लेकर संघर्ष कर रहा है| अतः हम यह कह सकते हैं कि इक्कीसवीं सदी के आदिवासी हिन्दी उपन्यास 'हो' 'उराँव' 'मुंडा' 'असुर' 'भील' 'बेड़िया' 'बोंडा' कंजर आदि जनजातियों को केंद्र में रखकर

लिखे गये हैं, जो राजस्थान, उड़ीसा, मध्यप्रदेश, झारखण्ड, हरियाणा आदि राज्यों में स्थित हैं| मुख्यतः यह उपन्यास एक ओर हमारी जगमगाती संपन्नता, औद्योगिक विकास, नागरीकरण, वैज्ञानिक सफलता आदि को व्यक्त करते हैं, तो दूसरी ओर आदिवासी जनजातियों की विपन्नता, विस्थापन, दारिद्रय, शोषण बीमारियाँ, अन्याय-अत्याचार, विषमता, पराधीनता, अभाव, भूख, अमानवीय जीवन, धर्मांतरण, तथा प्राकृतिक ह्रास को व्यक्त करते हैं| साथ ही इन समस्याओं से उबरकर निकलने के लिए संघर्ष करते आदिवासियों की जद्दोजहद को भी अभिव्यक्त करते हैं|

निष्कर्ष:

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि आदिवासी समाज की अस्मिता और उत्थान वर्तमान समय की सबसे बड़ी ज़रूरत है| आज़ादी के सात-आठ दशक बाद भी देश का आदिवासी समुदाय जिन मानसिकताओं एवं समस्याओं से जूझ रहा है, वह एक गहन चिंता का विषय है| किसी भी देश समाज में उभरने वाली लोकतांत्रिक राजनीति के लिए आवश्यक है कि राजनीतिक वैचारिकी का निर्माण हो| जब हम दलितों से आदिवासियों के राजनीतिक नेतृत्व की तुलना करते हैं, तो स्पष्ट दिखाई देता है कि दलितों में मसीहा के रूप में बाबा साहेब अम्बेडकर मौजूद हैं, जो संपूर्ण राष्ट्र के दलित समाज के वैचारिक महानायक हैं, जिनसे दलित समाज निरंतर प्रेरणा लेता रहता है| रामायण के दौर के वाल्मीकि ऋषि, निषादराज, सबरी आदिवासी चरित्र रहे हैं, झारखंडी आदिवासियों के भगवान बिरसा मुण्डा, महानायिका सिनगी दई, राबिनहुड के नाम से जाने जाने वाले टंटया भील, सिद्धू कान्हू, तिलक मांझी, शहीद गैंदा सिंह जैसे अनेकों मसीहा हैं|

ऐसे अनेक ऐतिहासिक या लोकतांत्रिक नायक उभरे उनमें से कोई अपने अंचल की सीमाओं को पार नहीं कर सका| जबकि आज देश में बहुत बड़ा आदिवासी समाज है| उन्हें एक सक्षम महानायक की अपेक्षा है| आदिवासियों के लिए सबसे बड़ी परेशानी की वजह क्या है? इस बात के ढेरों जवाब हो सकते हैं, लेकिन आंध्रप्रदेश, छत्तीसगढ़, झारखंड, उड़ीसा, गुजरात, एवं मध्यप्रदेश, के आदिवासियों की हालत देखें तो इसका सीधा जवाब मिलता हैं-जल, जंगल और जमीन|

आज़ादी के बाद से लगातार जल, जंगल और जमीन के कारण आदिवासियों को बार-बार विस्थापित होना पड़ा है, और भला अनचाहे ही विस्थापन से बड़ा दर्द और क्या ही हो सकता है? देश में लगभग 11 करोड़ आदिवासियों की आबादी है और विभिन्न आँकड़ों की माने तो हर दसवां आदिवासी अपनी जमीन से विस्थापित है| पिछले एक दशक में ही आंध्रप्रदेश, छत्तीसगढ़, और ओडिशा में जो 14 लाख से अधिक लोग विस्थापित हुए, उनमें 79 प्रतिशत आबादी आदिवासियों की ही थी| जंगल को ही अपना घर समझने वाले जनजातियों के विस्थापन के दर्द को किसी

मुआवजे से दूर नहीं किया जा सकता है| आदिवासी अपने जीवन, आजीविका और साँस्कृतिक पहचान के लिए जंगलों पर ही निर्भर है| जंगलों से दूर होते ही विस्थापित आदिवासी समुदाय अन्य समस्याओं की गिरफ्त में आ जाता है| दुर्भाग्य तो ये है कि आदिवासियों के विस्थापन का यह सिलसिला निरंतर जारी है| विस्थापन के साथ-साथ जिन बड़ी समस्याओं से आदिवासी समाज जूझ रहा है, उनमें मुख्य है-शिक्षा, रोजगार, स्वास्थ्य एवं राजनीतिक भेदभाव|

आदिवासी अस्मिता, स्वायत्तता, आत्मसम्मान, संस्कृति और विकास ये ऐसे मुद्दे हैं, जिन पर अराजनीतिक चिन्तन अपेक्षित है| इस परिप्रेक्ष्य में जब स्वायत्तता की बात की जाती है तो यह राजनीति, अर्थव्यवस्था, समाज और संस्कृति सभी स्तरों पर प्रासंगिक दिखाई देती है| आदिवासी समाज बहुत लंबे समय तक अपनी ही दुनिया में स्वायत्त और स्वावलंबी जीवन जीता रहा है, उसके पीछे अस्मिता और आत्मसम्मान की समृद्ध परंपरा रही है| इस स्वायत्तता के साथ आदिवासी बड़ी मुश्किल से समझौता कर रहे हैं, चाहे वह उनके लिए लाभकारी ही क्यों न हो? इसका कारण दीर्घकालीन मानसिकता होती है, जिसमें परिवर्तन बाहर से संभव नहीं होगा, इसलिए सकारात्मक परिवर्तन के लिए उनकी सहमति लेनी होगी| इस सहमति के बगैर परिवर्तन मानसिक तनाव को जन्म देगा, जो उस समाज के लिए सदा पीड़ा का कारण बना रहेगा और उसका विकास, अस्मिता एवं मौलिक मानवाधिकारों के संरक्षण में बाधा उत्पन्न करेगा|

जंगलों पर आधारित आर्थिक जीवन को प्राकृतिक संसाधनों के दोहन ने बुरी तरह प्रभावित किया है| नतीजतन आदिवासी जीवन से प्रभावित हुआ, और पारिस्थितिकी संतुलन बुरी तरह बिगड़ा| भारत की वन नीति और संवैधानिक प्रावधान इसकी छूट नहीं देते, लेकिन चीजों को तोड़-मरोड़ कर सब कुछ किया जाना संभव हो जाता है| सामाजिक और साँस्कृतिक स्वायत्तता सबसे महत्त्वपूर्ण पहलू है जो आदिवासी अस्मिता से सीधे-सीधे संबंध रखते हैं| आदिवासी समुदाय का एक बड़ा संकट यह भी है कि जंगल के इलाकों में रहने के कारण आमतौर पर सरकार संचालित योजनाएँ इन आदिवासियों तक पहुँच ही नहीं पाती है| केंद्र और राज्य सरकार की रोजगार गारंटी योजना सहित दूसरी अन्य योजनाओं से ये आदिवासी पूरी तरह से दूर हैं| जंगलों में भोजन की अनुपलब्धता के कारण कुपोषण और बीमारी इनके लिए जानलेवा साबित हो रही है| ऊपर से उनके इलाकों में होने वाले औद्योगीकरण की मार भी इन पर पड़ रही है, और इन्हें अपनी जमीन और परंपरागत व्यवसाय से विस्थापित होना पड़ रहा है|

आदिवासियों को विशेष शैक्षणिक, साँस्कृतिक और आर्थिक अवसरों में प्राथमिकता मिलनी चाहिए जिससे आदिवासियों द्वारा सहे गये पहले के अन्याय और उपनिवेश के प्रभावों का प्रतिकार किया

जा सके| आदिवासी सामुदायिक व्यवहारों की सुन्दरता, उनकी मिल-बाँट एवं सबके लिए आदर की संस्कृति, गूढ़ विनम्रता, प्रकृति प्रेम और सबसे ऊपर उनकी समानता तथा नागरिक समन्वय की गहन अनुरक्ति से भी देश और इस समाज के लोग बहुत कुछ सीख सकते हैं|

समग्र रूप में यह कहा जा सकता है कि हमारा संविधान सामाजिक न्याय के क्रियान्वयन हेतु एक विस्तृत व प्रभावी ढाँचा उपलब्ध कराता है| सामाजिक न्याय मुख्यतः समाज के वंचित एवं कमजोर वर्गों की दशा सुधारने की माँग करता है ताकि उन्हें सम्मानपूर्ण जीवनयापन का अवसर मिल सके| अतः यह संकल्पना समाज की मूल्यवान वस्तुओं की वितरण व्यवस्था पर पुनर्विचार की माँग करती है| सामाजिक न्याय, सामाजिक नीतियों या विवादों के समाधान से संबंधित वह दृष्टिकोण है जिसमें विभिन्न पक्षों के परस्पर विरोधी दावों का दावा करते समय निर्बल और निर्धन पात्र को विशेष सहायता एवं संरक्षण प्रदान करने में तत्परता दिखाई जाती है| आर्थिक, सामाजिक असमानताओं को घटाने, जनसाधारण की गरीबी, बेरोजगारी एवं अल्परोजगार के उन्मूलन, मानव गरिमा की पुनर्स्थापना एवं सभी को न्याय दिलाने के संबंध में स्वतंत्र भारत के लोगों का एक स्पष्ट दृष्टिकोण था| इस प्रकार स्वतंत्र भारत के लोगों द्वारा एक ऐसे समाज की स्थापना की जानी चाहिए, जिससे प्रत्येक व्यक्ति को सामाजिक न्याय प्राप्त हो सके, शायद इसीलिए भारतीय संविधान में सामाजिक न्याय की प्राप्ति हेतु अनेकों प्रावधान किए गये हैं|

हमारे प्राचीन ग्रन्थों में शिक्षा को मुक्तिदायिनी कहा गया है| 'सा विद्या या विमुक्तये' अर्थात शिक्षा ही वह साधन है जो मनुष्य की अज्ञानता तथा सभी बन्धनों से मुक्त कराती है| शिक्षा के ही महत्त्व को देखते हुए स्वामी विवेकानन्द ने भी कहा है कि अज्ञानता ही सभी दुखों का कारण है| सामाजिक न्याय का तात्पर्य यह है कि सामाजिक जीवन में समस्त व्यक्तियों की गरिमा स्वीकार की जाए| स्त्री-पुरुष, गोरे-काले, या जाति-धर्म व क्षेत्र इत्यादि के आधार पर किसी को बड़ा-छोटा या ऊँच-नीच न माना जाए| शिक्षा और उन्नति का अवसर सभी को समान रूप से प्राप्त हो, और सब लोग मनुष्य होने के कारण मिल-जुलकर साहित्य, कला, संस्कृति और तकनीकी साधनों का उपयोग और उपभोग कर सकें|

संदर्भ ग्रन्थ:

1- आदिवासी साहित्य विमर्श, संपादक-डॉ.गंगासहाय मीणा, पृष्ठ संख्या-19

2- आदिवासी कौन? संपादक- रमणिका गुप्ता, पृष्ठ संख्या-86, राधाकृष्ण प्रकाशन नई दिल्ली

3- राजस्थान के आदिवासी, डॉ. एस.के.सोनी, पृष्ठ संख्या-08, यूनिक ट्रेडर्स नई दिल्ली

4- वही, पृष्ठ संख्या-09

5- साक्षात्कार, रमणिका गुप्ता

6- आदिवासी कौन? संपादक रमणिका गुप्ता, पृष्ठ संख्या-27 राधाकृष्ण प्रकाशन नई दिल्ली

7- दलित संघर्ष और सामाजिक न्याय, मल्लपुराण पृष्ठ संख्या-17, आविष्कार पब्लिशर्स-2022

8- सामाजिक न्याय एवं दलित संघर्ष, रामगोपाल सिंह, पृष्ठ संख्या-01, राजस्थान ग्रन्थ आकादमी जयपुर-2006

9- Greek Political Theory, Barker, page-153

10-राजनीतिक दर्शन का इतिहास, अनुवाद-विश्वप्रकाश गुप्त,खंड-01, पृष्ठ संख्या-52, एस.चंद एंड कंपनी, नई दिल्ली-1964

11-वही, पृष्ठ संख्या-53

12-डॉ.अम्बेडकर लाइफ एंड मिशंश, कीर. धनन्जय,पृष्ठ संख्या-166-208, पापुलर प्रकाशन मुंबई-1981

13-डॉ.अम्बेडकर एक चिन्तन, मधुलिमये, पृष्ठ संख्या-35, सरदार वल्लभभाई पटेल एजुकेशन सोसाइटी नई दिल्ली-1990

14-डॉ.अम्बेडकर: द रिलेन्तलेस क्रूसेडर योजना, सिंह एम.एम, पृष्ठ संख्या-10, अप्रैल-1991

15-बोंडा जाति का औपन्यासिक समाजशास्त्र, कृष्णचन्द्र गुप्त, पृष्ठ संख्या-88, हँस-संपादक-राजेन्द्र यादव, अंक-2002

16-काला पादरी, तेजिंदर, पृष्ठ संख्या-21

17-दलित साहित्य: एक मूल्याँकन, प्रोफ़ेसर चमनलाल, पृष्ठ संख्या-166

18-पठार पर कोहरा, राकेश कुमार सिंह, पृष्ठ संख्या-137

19-धूणी तपे तीर, हरिराम मीणा, भूमिका से उधृत

20-ग्लोबल गाँव के देवता, रणेंद्र, पृष्ठ संख्या-58

21-पिछले पन्ने की औरत, शरद सिंह, पृष्ठ संख्या-06, सामयिक प्रकाशन नई दिल्ली-2016

22-'ईमा मुझे खैंचे है तो रोके है मुझे कुफ्र', रणेंद्र, नया ज्ञानोदय, जून-2012, पृष्ठ संख्या-101

23-गायब होता देश, रणेंद्र पृष्ठ संख्या-63